दुष्यंत कुमार के 'एक कंठ विषपायी' नाटक में आधुनिक बोध

डॉ. पोपट भावराव बिरारी
सहायक प्राध्यापक, हिंदी विभाग
म.वि.प्र.समाज संचालित,
कला, वाणिज्य व विज्ञान महाविद्यालय त्र्यंबकेश्वर, जि.नासिक
ईमेल– popatbirari@gmail.com
मो. 9850391121

सारांश :–

दुष्यंत कुमार ने 'एक कण्ठ विषपायी' इस पौराणिक गीति–नाट्य को समकालीन सच्चाईयों से सम्बद्ध करके इसे व्यापक आयाम प्रदान किया है । यह नाटक पौराणिक आख्यान पर आधारित होते हुए भी अपने में आधुनिक है । उसमें कई प्रश्न एक साथ उठाये गये हैं । आधुनिक प्रजातांत्रिक पद्धति की शिथिलता, शासन या सत्ता की व्यक्तिगत सनक या लिप्सा के कारण युद्ध, युद्ध का औचित्य और उससे घुटता–टूटता हुआ सामान्य आदमी जिसका प्रतीक सर्वहत है लेकिन उसकी मूल संवेदना यह है कि परंपरा से जुड़ा हुआ व्यक्ति या समाज उस परंपरा के टूटने को या जोड़े जाने को सहज स्वीकार नहीं करता, वह या तो विक्षुब्द और कुपित हो उठता है या स्वयं टूटता है किंतु जो महान व्यक्तित्व होते हैं वे परम्परा से कट कर नये मूल्यों को अंगीकार कर लेते हैं । शंकर ने जिस प्रकार थोड़े ही समय में नई स्थितियों को स्वीकार किया इसलिए उन्हें एक कंठ विषपायी कहा गया है ।

यह सत्य है कि परिवर्तन को स्वीकार करना किसी के लिए भी सहज नहीं होता किंतु परिवर्तन जड़ता को समाप्त करने के लिए अनिवार्य होता है । परिवर्तन प्रकृति का शाश्वत नियम है । सभ्यता और संस्कृति का विकास परिवर्तन से ही होता है । नाटक में परंपरावादी मानसिकता और आधुनिक मानसिकता के अंतर्विरोध को दुष्यंत कुमार ने बखूबी उकेरा है । यह नाटक आधुनिक जीवन की विडंबनाओं को चित्रित करने में पूर्ण समर्थ है । इस नाटक में आधुनिक प्रजातंत्र की विसंगतियों पर करारा प्रहार किया गया है । सर्वहत जैसे काल्पनिक पात्र की उद्भावना कर दुष्यंत कुमार ने आमजन के साथ अपने आंतरिक जुड़ाव को दर्शाया है ।

प्रस्तावना :–

दुष्यंत कुमार द्वारा लिखित 'एक कण्ठ विषपायी' यह गीति–नाट्य कृति है । इसमें प्रायः मिथक ही होते हैं । मिथक जो हमारे चेतन के साथ– साथ अवचेतन से भी गहरे तौर पर जुड़े होते हैं । परंपरागत रूप से इनका प्रभाव हमारे जीवन और संस्कृति पर प्रबल होता है । इन मिथकों से रचनाकारों को एक कथ्य मिल जाता है जिसके सहारे रचना का पूरा वितान रचा जा सकता है । देवताओं में शिव ऐसे मिथक हैं जो औरों से बिलकुल अलग आभा वाले हैं । चाहे उनका पहनावा हो, चाहे उनकी सवारी नंदी, चाहे उनका खान–पान हो, चाहे उनके गण–अनुचर सब आम आदमी के आस–पास के बिम्ब हैं । इस शिव की ख़ासियत यही है कि अगर इनका तीसरा नेत्र खुल गया तो फिर दुनिया को ख़ाक होते देर नहीं लगेगी। सभी प्रार्थना करते हैं कि यह नेत्र ऐसे ही बंद रहे। यह शिव उस आम आदमी की शक्ति का पर्याय नहीं जिसके जगने पर सत्ताधीशों को ज़मींदोज़ होते देर नहीं लगती। ये सत्ताधीश अपनी भलाई इसी में समझते हैं कि शिव अपना नेत्र बंद रखें। अर्थात् जनता अपनी शक्ति अपने सामर्थ्य को भूली रहे। वह सोयी ही रहे, किसी भी क़ीमत पर जगने न पाए। यह शिव जो कि एक जन–प्रतीक है, दुनिया भर के विष को अपने कण्ठ में

समाहित किए हुए है । क्या दूसरे किसी प्रतीक में विष को भी आत्मसात करने की ऐसी ही क्षमता है । ख़ासकर अपने स्वार्थों को दरकिनार कर इस दुनिया को बचाने के लिए विष को अपने ही कण्ठ में समाहित कर लेने का साहस शिव में ही है ।

'एक कण्ठ विषपायी' नाटक में आधुनिक बोध :–

'एक कण्ठ विषपायी' नाटक चार अंकों में विभक्त है । पहला अंक दक्ष और उनकी पत्नी 'वीरिणी' के संवाद से शुरू होता है । चर्चा दक्ष द्वारा 'शिव' की आलोचना से शुरू होती है जिसका बचाव 'वीरिणी' करती हैं । 'दक्ष' 'सती' द्वारा शिव से शादी को लेकर अप्रसन्न हैं और शिव की आत्म प्रतिष्ठा को ठेस पहुंचाना चाहते हैं । इसी को ध्यान में रख एक विराट यज्ञ का आयोजन कर रहे हैं जिसमें कैलास लोक के हर प्रतिवेशी को तो बुलाया गया है लेकिन जामाता शिव को जान–बूझकर आमंत्रित नहीं किया जाता । वीरिणी यह जामाता को बुलाने के संदर्भ में दक्ष से कहती है तब दक्ष कहते है–

"जामाता?
मैं तो उसको संबंधी कहने में
खुद को अपमानित अनुभव करता हूँ ।
देवि!
क्या संबंधी का यह अर्थ नहीं
की हमारी कोमल
अथवा
मधुर स्नेह की धारा से
कोई संयुक्त हो?"[1]

वस्तुतः शिव से विवाह करने की सती की ज़िद को दक्ष अपनी प्रतिष्ठा पर एक बड़ा आघात मानते हैं । ऐसी मनोवृत्ति उस पितृसत्तात्मक समाज की होती है जो स्त्री जाति को अपने अनुसार हाँकना चाहता है । इससे सती क्षुब्ध हैं । स्त्री की तनिक भी स्वतंत्रता उसे बर्दाश्त नहीं होती । अगर स्त्री ने अपने मन से कोई निर्णय ले लिया तो यह पुरुष समाज के लिए बर्दाश्त नहीं होता है । मानसिक दोहन के क्रम में पुरुष समाज इसे अपनी इज़्ज़त और मर्यादा से जोड़ लेता है । मिथक में इस घटना का होना यह भी बताता है कि पितृसत्तात्मक समाज की यह मनोवृत्ति आज की नहीं बल्कि बहुत पुरानी है । सती के संदर्भ में दक्ष की यह सोच भी उसी रूढ़ परंपरा को दर्शाती है जो पुरुष को ही श्रेष्ठ तथा बेहतर एवं स्त्री को हेय एवं निम्नतर मानता है । अपने घमंड में दक्ष यह भी भूल जाते हैं कि सती न केवल शिव की पत्नी हैं बल्कि उनकी पुत्री भी हैं । अंततः यज्ञ वेदिका में सती द्वारा अपनी आत्माहुति देने के साथ ही पहले अंक का समापन होता है ।

नाटक का दूसरा अंक दृश्य से शुरू होता है जिसमें दक्ष की समूची नगरी भग्न दिखायी पड़ती है । युद्ध अन्ततः अपने साथ तबाही ही लाता है । तभी तो जब ब्रह्मा कहते हैं कि 'शेष यहां कुछ भी नहीं बचा' तो सर्वहत कहता है–

"कौन कहता है–
यहाँ कुछ भी नहीं है शेष ।
यहाँ शेष ही तो है सब कुछ...
देखो...
सारे नगर में ताजा
जमा हुआ रक्त है

और सड़ी हुई लाशें हैं
मुड़ी हुई हड्डियाँ हैं
क्षत–विक्षत तन हैं
और उन पर भिन्नाते हुए
चीलों और गिद्धों के झुण्ड
और मक्खियाँ हैं ।"[2]

अतः ये युद्ध शासकों की महत्त्वाकांक्षाओं की परिणति होते हैं जिसकी चक्की में सिर्फ़ जनता ही पिसती है । जनता के प्रतिनिधि के तौर पर आए पात्र 'सर्वहत' के आत्मसंवाद में यह सवाल मुखर होकर आता है कि जनता क्या है? 'राज्य की प्रजा' या 'शायद कुछ भी नहीं' या 'सब– कुछ'। यह सवाल आज भी प्रासंगिक है और परेशानी यह कि इसका ठीक– ठीक जवाब आज तक नहीं ढूँढ़ा जा सका है । इसी अंक में एक अन्य प्रसंग में विष्णु कहते हैं कि 'प्रजापति दक्ष ने यज्ञ नहीं युद्ध का आयोजन किया था ।' जनता की भावनाओं का दोहन कर अपना हित साधती हैं । और जब तक उनकी हक़ीक़त समझ में आए तब तक सब–कुछ नष्ट–भ्रष्ट हो चुका होता है । जीतते–हारते शासक हैं, रही जनता की बात तो वह तो हमेशा हारती ही है । इतिहास गवाह है कि हर ज़माने में शंकर को ही कालकूट पीना पड़ता है ।

नाटक के तीसरे अंक में शोक संतप्त शिव का आत्मालाप और उनके द्वारा दी गई ध्वंस की चेतावनी है । हमारी यह दुनिया ऐसी ही है जहाँ काम करने वाले लोग जिनके दम पर समाज और राष्ट्र का समूचा कारोबार चलता है, वे हीन माने जाते हैं और भूखे–प्यासे रह जाते हैं । इसके विपरीत परिश्रम को हेय मानने वाले लोग उच्च माने जाते हैं और सारे ऐशो आराम के साथ जीवन यापन करते हैं । ऐसे लोग प्रभु वर्ग के लोग होते हैं । इस प्रभुता का आकर्षण विचित्र होता है । इसे उद्घाटित करते हुए शिव कुबेर से कहते हैं–

"कर्तव्य तुम्हारा
धन–संचय से इतर
और भी है कोई?
यदि है तो, हे धनपति कुबेर!
यह है कुयोग;
मैं तो समझा था
धन के दृष्टि नहीं होती
भावना–शून्य हो जाते हैं
धनवान लोग ।
आत्मस्थ बना देती है सत्ता मित्रों को
आचरण बदल जाते हैं उनके क्षण–क्षण
अपनत्व खत्म हो जाता है
बच रहता है थोड़ा–सा शिष्टाचार
और औपचारिकता,
प्रभुता का ऐसा ही होता आकर्षण।"[3]

सत्ता बिलकुल अपना–सा लगने वाले व्यक्ति को भी बदल डालती है । सत्ताधारी व्यक्ति की सोच और आचरण पूरी तरह बदल जाते है ।

नाटक के चौथे अंक में शिव के देवलोक पर आक्रमण और कोप का सामना करने के लिए देवताओं के बीच हुई बातचीत को आधार बनाया गया है, विष्णु कई फलक वाले प्रणाम बाण को छोड़ते हैं जो शिव के कंधे पर पड़ी हुई सती के शव को खण्ड–खण्ड कर हर दिशाओं में छितरा देते हैं । और काव्य–नाटिका का यहीं पर समापन हो जाता है । अतः इस अंक में युद्ध की अनिवार्यताओं पर देवताओं के बीच एक बहस वर्णित है जिसमें कई मौजूद समस्याओं को उठाया गया है । शासक आज भी अपनी भली–बुरी हर बात को मनवाने के लिए युद्ध को ही अंतिम साधन मानता है भले ही उसका दुष्परिणाम जनता को युगों तक चुकाना पड़े । इसी प्रसंग में द्वितीय विश्व युद्ध के अंतिम दिनों में जापान के हिरोशिमा और नागासाकी शहरों पर गिराये गये परमाणु बम की याद आती है, जिसके बाद यह भयावह युद्ध औपचारिक तौर पर समाप्त हुआ था । इसमें कोई संशय नहीं कि जापान धुरी राष्ट्रों की उस मण्डली में शामिल था जिसका चिंतन फासीवाद से आप्लावित था । इसके बावजूद एक सवाल तो यह है ही कि क्या उस समय जापानी जनता भी वही चाहती थी जो उसके शासक चाहते थे । अगर नहीं तो उस नगर पर बम गिराने का क्या औचित्य था जहाँ बेकसूर जनता रहती थी । दुष्यंत कुमार का युद्ध के प्रति यह चिंतन मानवता के प्रति एक कवि की प्रतिबद्धता एवं संवेदनशीलता को पूरी तरह स्पष्ट कर देता है । काव्य–नाटिका में एक पात्र है 'सर्वहत'। सर्वहत नामक यह पात्र बाद में काव्य–नाटिका में समाविष्ट हुआ जो अनायास ही उभरकर आधुनिक प्रजा का प्रतीक बन गया । दरअसल यह सर्वहत उस सर्वहारा वर्ग का ही प्रतिनिधि है जो हर जगह उपेक्षित रहता है । सर्वहत कहता है–

"मैं सुनता हूँ ...
मैं सब कुछ सुनता हूँ
सुनता ही रहता हूँ
देख नहीं सकता हूँ
सोच नहीं सकता हूँ
और सोचना मेरा काम नहीं है ।
उससे मुझे लाभ क्या ...
मुझको तो आदेश चाहिए
मैं तो शासक नहीं
प्रजा हूँ
मात्र भृत्य हूँ
इसीलिए केवल सुनना मेरा स्वभाव है ।"[4]

आज भी जनता की यही स्थिति है । वह मूकद्रष्टा की भूमिका में होती है । जनता के सेवक के नाम पर शासन करने वाले नेता और नौकरशाह अपने को अधिनायक समझने लगते हैं । लोकतंत्र भी आज महज़ एक मज़ाक़ बनकर रह गया है । वंशवाद, परिवारवाद, जातिवाद, क्षेत्रवाद से आज सभी दल आप्लावित हैं ।

नेताओं का अपने को प्रतिनिधि कहने वाले नेता आख़िर आज क्या कर रहे हैं । दुर्भाग्यवश पुराने राजाओं–महाराजाओं की अनुकृति बनकर ही रह गए हैं । जनता इन प्रतिनिधियों के ग़लत निर्णयों की चक्की में अनवरत पिसती रहती है । एक जगह सर्वहत कहता भी है–

"क्या बच्चों–सी बातें करते हैं आप लोग ।
आप लोग शासक हैं
और शासकों को कहीं
रक्त की कमी हुआ करती है ।
आप लोग चाहें तो मेरे लिए रक्त का समुंदर भर सकते हैं ।
–पर मैं समझता हूँ
मुझको बहलाते हैं आप लोग ।
आप लोग मुझसे हैं असंतुष्ट
अप्रसन्न ।
आप नहीं
सभी लोग
... सभी मुझे देखकर घृणा से थूक देते हैं
मुझे मार डालने के लिए लपकते हैं ।
पर मेरा दोष क्या है?"[5]

परंपरा हमें इतनी प्रिय लगने लगती है कि हम इन्हें ढोते रहने में तनिक भी असहजता महसूस नहीं करते। "हमारे चिंतक, बुद्धिजीवी और नेता तक परंपराओं, मान्यताओं और विचारों की लाशें ही ढोते रहने में गौरव महसूस करते हैं । ऐसा करने वाले ख़ुद ही यह नहीं समझ पाते कि परम्पराओं की लाशें ढोने वाले ख़ुद भी तो लाशें बन जाते हैं ।"[6] अतः परिवर्तन का विष पीना और पचाना सरल कहाँ होता है । यह कोई साधारण कार्य भी नहीं होता । आम तौर पर नये सत्य के सम्मुख पड़ने या नये प्रश्नों से जूझने का साहस हममें नहीं होता । लेकिन समय अपनी गति से अनवरत प्रवहमान रहता है और जो भी कोई समय के साथ नहीं चलता समय उसे बड़ी बेरहमी से कूड़ेदान में फेंक देता है ।

निष्कर्ष :–

'एक कण्ठ विषपायी' समग्र रूप से इसलिए एक महत्त्वपूर्ण काव्य– नाटिका बन पड़ी है कि इसमें अपने समय की समस्याओं से जूझने और टकराने का साहस–दुस्साहस मौजूद है । इसमें युग के सत्यों को जिस बेबाकी से उद्घाटित किया गया है उससे रचनाकार को सृजन का सुख मिला है इसमें कोई संशय नहीं । वह सृजन–सुख जो अपने आप में तमाम पीड़ाओं से भरा हुआ है लेकिन जो अंतिम रूप में किसी भी रचनाकार के लिए एक उपलब्ध होता है । शिव–सती प्रसंग को आधार बनाकर लिखी गई इस गीति–नाटिका में दुष्यंत कुमार ने बड़ी बेबाकी से कई ऐसे प्रसंगों को उठाया है जो हमारे समय में प्रासंगिक हैं ।

संदर्भ ग्रंथ :–

1) दुष्यंत कुमार, एक कण्ठ विषपायी, लोकभारती प्रकाशन इलाहबाद, प्रथम.सं.2013, पृ.12
2) वही, पृ.45
3) वही, पृ.81
4) वही, पृ.111
5) वही, पृ.116
6) वही, पृ.132